1

भारतीय सामाजिक संरचना

मानव जीवन की एक विशेषता है कि उसमें व्यक्तियों के परस्पर सम्पर्क कम या अधिक अंश में 'संरचित' हैं। हमारे जीवन की दैनिक एवं क्रमिक घटनाएँ मानवीय समाज की संरचना का बोध कराती हैं। उदाहरणार्थ, समाजशास्त्रीय दृष्टि से निरुद्देश्य अथवा अनुपम घटनाएँ मानव जीवन का महत्त्वपूर्ण पहलू नहीं हैं अपितु प्रतिमानित व्यवहार का विशेष महत्त्व है। मानव अनेक प्रतिमानित कार्य करता है जिनकी व्याख्या की जा सकती है तथा जिनके बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है कि वह अमुक परिस्थिति में अमुक कार्य करेगा। समाजशास्त्री का कार्य इन्हीं प्रतिमानित व्यवहारों का अध्ययन करना है जिससे कि उनकी 'सामाजिक संरचना' का पता चल सके तथा अमूर्त समाज में रहने वाले व्यक्तियों की जीवन-पद्धति का अनुमान हो सके। सामाजिक संरचना शब्द इस तथ्य को दर्शाता है कि समाज संरचनात्मक है अर्थात् अपने विशिष्ट रूप में वह क्रमवार तथा नियमित है। सामाजिक संरचना की अवधारणा लोगों के आचरण, एक-दूसरे से सम्बन्ध में अन्तर्निहित नियमितताओं को व्यक्त करती है। अन्य अवधारणाओं की भाँति, 'सामाजिक संरचना' की अवधारणा का प्रयोग समाजशास्त्र में विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। इसे समझने के लिए हमें पहले 'संरचना' शब्द का अर्थ ज्ञात होना चाहिए।

प्रत्येक समाज की अपनी एक संरचना होती है जो उसकी विभिन्न परम्पराओं में निहित होती है। परम्पराएँ विचार करने, अनुभूति करने और व्यवहार करने के वे प्रतिमान हैं, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हुए समाज की विरासत को प्रकट करते हैं। इसलिए किसी भी समाज का अध्ययन उसकी संरचनात्मक विशेषताओं और प्रमुख परम्पराओं के आधार पर ही किया जा सकता है। परम्पराओं का अध्ययन समाज की संस्कृति से जुड़ा होता है। संस्कृति किसी भी देश और समाज की आत्मा होती है। इसके माध्यम से हम उस समाज के जीवन की सामूहिक एवं अच्छी क्रियाओं को जान पाते हैं और यही क्रियाएँ सामाजिक जीवन की नींव बनती हैं जिस पर किसी समाज की संरचना निर्मित होती है। कोई भी संस्कृति मानव जीवन के उन गुणों का सूचक होती है जिनके आधार पर वह समूह एक विशिष्ट समूह बन जाता है और अन्य मानव समूहों से अलग देखा तथा समझा जा सकता है। परिस्थितियाँ मानव की जीवन-यापन की पद्धतियों और स्वभाव में अन्तर उत्पन्न करती हैं और इसी के आधार पर एक संरचना दूसरे से अलग हो जाती है। भारतीय समाज की संरचना भी विश्व के अन्य देशों की संरचनाओं व संस्कृतियों से, मौलिक रूप से आध्यात्मिक उद्देश्यों के कारण, अलग है।

भारतीय सांस्कृतिक जीवन के प्रमुख आधारों को जब हम देखते हैं जिन पर यह विशाल समाज और संस्कृति टिकी है, तो हमारा ध्यान प्रमुख रूप से दो बातों पर जाता है—**प्रथम,** व्यक्ति और समाज का सन्तुलित समन्वय (जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों के कर्त्तव्य निहित हैं), एवं **दूसरा,** विश्व-बन्धुत्व की भावना और उसका प्रसार जिसके कारण सांस्कृतिक समन्वय हो पाया है।

भारतीय समाज का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने इसकी प्रमुख संरचनात्मक विशेषताएँ खोजने का प्रयास किया है। **एम० एन० श्रीनिवास** (M. N. Srinivas) ने भारतीय सामाजिक संरचना की प्रमुख विशेषता इसकी सामाजिक-सांस्कृतिक विविधता को बताया है। **ड्यूमो** (Dumont) ने श्रेणीबद्धता (Hierarchy) को भारतीय समाज का प्रमुख लक्षण माना है। उनके अनुसार इस समाज को वर्ण और जाति के ऊँचे-नीचे श्रेणीबद्ध-क्रम सोपान के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। **योगेन्द्र सिंह** (Yogendra Singh) ने भारतीय समाज के चार प्रमुख संरचनात्मक व परम्परागत लक्षण बताए हैं—श्रेणीबद्धता, समग्रवाद (Holism), निरन्तरता (Continuity) तथा लोकातीतत्व (Transcendence)। **मैण्डलबाम** (Mandelbaum) ने भारतीय समाज को समझने के लिए दो अवधारणाओं को इसकी कुंजी के समान माना और वे हैं—जाति तथा धर्म। परन्तु ये सब लक्षण शून्य में नहीं पाए जाते हैं अपितु गाँवों, कस्बों तथा नगरों में पाए जाते हैं। पहले कभी गाँव एवं नगर में परस्पर सम्पर्क बहुत कम था। परन्तु आज ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों में सम्पर्कों का क्षेत्र काफी बढ़ गया है। प्रस्तुत अध्याय में भारतीय सामाजिक संरचना के इन्हीं पहलुओं अर्थात् गाँवों, कस्बों एवं नगरों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

समूह एवं समुदाय

मनुष्य अपना जीवन अकेले न बिताकर अन्य मनुष्यों के साथ समूहों के अन्तर्गत बिताता है। इसके सर्वप्रमुख दो कारण हैं—**प्रथम**, वह सामाजिक प्राणी होने के कारण समूह में रहना पसन्द करता है; तथा **दूसरे**, उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों पर आश्रित होना पड़ता है। मनुष्य की जन्म

से लेकर मृत्यु तक अनेक आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समूह में रहना आवश्यक है, क्योंकि इनकी पूर्ति मनुष्य स्वयं नहीं कर सकता। इसी कारण मनुष्य अनेक समूहों का सदस्य है। उदाहरण के लिए—हम सभी अपने परिवार, क्रीड़ा समूह, मित्र-मण्डली, जाति तथा राष्ट्र के सदस्य हैं। इस सन्दर्भ में **एडवर्ड सेपियर** (Edward Sapir) का कथन है कि समूह का निर्माण इस तथ्य पर आधारित है कि कोई न कोई स्वार्थ उस समूह के सदस्यों को एक सूत्र में बाँधे रहता है। विभिन्न प्रकार के समूहों से ही समाज का निर्माण होता है।

सामाजिक समूह का अर्थ एवं परिभाषाएँ

सामाजिक समूह केवल व्यक्तियों का संग्रह मात्र ही नहीं है। इन व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का होना अत्यावश्यक है। जिस समय दो या दो से अधिक व्यक्ति कतिपय सामान्य उद्देश्यों अथवा लाभों की पूर्ति हेतु परस्पर सम्बन्धों की स्थापना करते हैं और अपने व्यवहार द्वारा एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, तो उसे सामाजिक समूह की संज्ञा दी जा सकती है। वास्तव में, यह उन लोगों का समुच्चय है जो आपस में किसी न किसी तरह की अन्तर्क्रिया करते हैं और इसलिए अपने आप को एक-दूसरे से जुड़े हुआ अनुभव करते हैं।

(1) मैकाइवर एवं **पेज** (MacIver and Page) के अनुसार—"समूह से हमारा तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों के संग्रह से है जो एक-दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।"

(2) बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार—"एक सामाजिक समूह का अर्थ हम दो या अधिक व्यक्तियों के ऐसे संग्रह से लगा सकते हैं जिनके ध्यान के कुछ सामान्य लक्ष्य होते हैं, जो एक-दूसरे को प्रेरणा देते हैं, जिनमें सामान्य वफादारी पाई जाती है और जो समान क्रियाओं में भाग लेते हैं।"

(3) ऑगबर्न एवं **निमकॉफ** (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार—"जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्र होकर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सामाजिक समूह केवल व्यक्तियों का संग्रह मात्र ही नहीं है। इन व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का होना अत्यावश्यक है। अत: कहा जा सकता है कि जिस समय दो या दो से अधिक व्यक्ति कतिपय सामान्य उद्देश्यों अथवा लाभों की पूर्ति हेतु परस्पर सम्बन्धों की स्थापना करते हैं और अपने व्यवहार द्वारा एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, तो उसे सामाजिक समूह की संज्ञा दी जा सकती है। वास्तव में, यह उन लोगों का समुच्चय है जो आपस में किसी न किसी तरह की अन्तर्क्रिया करते हैं और इसलिए अपने आप को एक-दूसरे से जुड़े हुआ अनुभव करते हैं।

सामाजिक समूह की सामान्य विशेषताएँ

सामाजिक समूह की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) समूह व्यक्तियों का संग्रह है—समूह के लिए व्यक्तियों का होना आवश्यक है। यह आवश्यक नहीं है कि समूह के सदस्यों में शारीरिक निकटता ही हो, परन्तु उनके मध्य अन्तर्क्रिया का होना आवश्यक है। इसी अन्तर्क्रिया से सामाजिक सम्बन्धों का जन्म होता है।

(2) समूह की अपनी सामाजिक संरचना होती है—प्रत्येक समूह की एक सामाजिक संरचना होती है। फिचर के अनुसार प्रत्येक समूह की अपनी सामाजिक संरचना होती है। उस संरचना में व्यक्तियों की प्रस्थिति निर्धारित होती है। प्रत्येक समूह में आयु, लिंग, जाति, व्यवसाय आदि के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है। प्रत्येक सदस्य को समूह में अपनी प्रस्थिति से सम्बन्धित भूमिका निभानी पड़ती है।

(3) समूह में कार्यात्मक विभाजन होता है—समूह में संगठन बनाए रखने के लिए प्रत्येक सदस्य विविध कार्य करता है। उदाहरण के लिए, शिक्षण संस्था में प्रत्येक शिक्षक अलग-अलग विषय को पढ़ाते हैं तथा ज्ञान देने के लक्ष्य को पूरा करते हैं। प्रधानाचार्य की अपनी अलग भूमिका होती है और लिपिक वर्ग के सदस्य उनके लिए निर्धारित कार्यों को निष्पादित करते हैं।

(4) समूह में सामान्य स्वार्थों की भावना होती है—मनुष्य समूह का सदस्य इसलिए बनता है, क्योंकि उसके माध्यम से उसके स्वार्थों की पूर्ति होती है। सभी सदस्यों के स्वार्थ समान होते हैं। अतएव उनकी भावनाएँ भी एक-सी होती हैं। यदि सदस्यों के स्वार्थ या हित असमान होंगे तो ऐसी दशा में न सम्बन्धों में दृढ़ता रहेगी और न समूह में संगठन ही होगा।

(5) समूह विशेष की सदस्यता ऐच्छिक होती है—परिवार जैसे समूह को छोड़कर अन्य सभी समूहों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। यह व्यक्ति की व्यक्तिगत रुचि तथा लक्ष्यों की प्रकृति पर निर्भर करता है कि वह किस समूह का सदस्य बनेगा। अत: मनुष्य अपने जीवन काल में अनेक समूहों के सम्पर्क में आता है।

(6) समूह की अपनी सत्ता होती है—समूह का आधार सामूहिक व्यवहार है। सामूहिक व्यवहार के अभाव में समूह का अस्तित्व सम्भव नहीं है। व्यक्ति समूह के समक्ष अपने अस्तित्व को बहुत गौण मानता है। समूह पर उसे पूरा विश्वास तथा श्रद्धा होती है। अत: वह समूह के नियम तोड़ने से डरता है। यह भावना समूह के अस्तित्व की रक्षा करती है। इसके साथ-ही-साथ, इससे समूह को स्थायित्व तथा संगठन प्राप्त होता है।

(7) सामाजिक मानदण्ड समूह में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं—समूह अपने अस्तित्व के लिए कुछ मानदण्डों या आदर्श-नियमों की स्थापना करता है। इनके द्वारा वह अपने सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित करता है। इन्हीं मानदण्डों के कारण सदस्यों के व्यवहार में एकरूपता रहती है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी समूहों के सामान्य मानदण्ड हों तथा वे सभी सदस्यों पर समान रूप से लागू हो।

(8) समूह एक मूर्त संगठन है—सामाजिक समूह समान उद्देश्यों व लक्ष्यों वाले व्यक्तियों का संकलन है। क्योंकि यह व्यक्तियों का संकलन है अतएव यह मूर्त होता है।

सामाजिक समूहों का वर्गीकरण

समाजशास्त्रियों ने सामाजिक समूहों का वर्गीकरण भिन्न आधारों को सामने रखकर किया है। प्रमुख समाजशास्त्रियों ने समूहों का वर्गीकरण निम्नवर्णित प्रकार से किया है—

(1) समनर (Sumner) का वर्गीकरण

समनर ने समूह के सदस्यों में घनिष्ठता व सामाजिक दूरी के आधार पर समस्त समूहों को निम्नलिखित दो प्रकारों में वर्गीकृत किया है—

(1) अन्त:समूह (In-group)—जिन समूहों के साथ कोई व्यक्ति पूर्ण एकात्मकता या तादात्म्य स्थापित करता है उन्हें उसका अन्त:समूह कहा जाता है। अन्त:समूह के सदस्यों के मध्य अपनत्व की भावना पाई जाती है। वे अन्त:समूह के सुख को अपना सुख तथा दु:ख को अपना दु:ख मानते हैं। समूह का अस्तित्व सदस्य स्वयं का अस्तित्व मान लेते हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार के समूह में 'हम की भावना' (We feeling) पाई जाती है। प्रत्येक सदस्य एक-दूसरे से भावात्मक सम्बन्धों द्वारा बँधा होता है। प्रेम, स्नेह, त्याग और सहानुभूति का भाव स्पष्ट रूप से सदस्यों के मध्य दृष्टिगोचर होता है। अधिकांश व्यक्तियों के लिए परिवार अन्त:समूह का एक चिरपरिचित उदाहरण है। अपना गाँव, जाति, धार्मिक सम्प्रदाय, राष्ट्र आदि अन्त:समूह के अन्य उदाहरण हैं। प्रत्येक व्यक्ति का राष्ट्र उसका अन्त:समूह है। वह अपने देश की प्रशंसा उसकी प्रगति से प्रारम्भ करता है। इसके विपरीत देश की अवनति या बुराई से उसे दु:ख होता है। ठीक इसी प्रकार पड़ोस या जिस शिक्षण संस्था का वह सदस्य है, वह व्यक्ति का अन्त:समूह होता है। वह उस अन्त:समूह से विशेष लगाव व स्नेह रखता है तथा ठीक वैसे ही कार्य करता है, जैसे कि समूह की इच्छा होती है। अत: अन्त:समूह, सदस्यों की दृष्टि में उसका अपना समूह होता है। उसके साथ सदस्य अपना तादात्म्य स्थापित करते हैं। अन्त:समूह प्राथमिक भी हो सकते हैं, द्वितीयक भी, वे स्थायी भी हो सकते हैं तथा अस्थायी भी।

(2) बाह्यसमूह (Out-group)—कोई व्यक्ति बाह्यसमूह का उल्लेख अपने अन्त:समूह के सन्दर्भ में करता है। बाह्यसमूहों के लिए वह 'वे' या 'अन्य' जैसे शब्दों का प्रयोग करता है। बाह्यसमूह में जो गुण पाए जाते हैं वे अन्त:समूह से विपरीत होते हैं। इसमें इस तरह की भावना होती है व्यक्ति इसे दूसरों का समूह समझता है। इसी कारण बाह्यसमूह के प्रति सहयोग, सहानुभूति, स्नेह आदि का सर्वथा अभाव होता है। उसके स्थान पर बाह्यसमूह के प्रति दूरी या अलगाव, खिन्नता, घृणा, प्रतिस्पर्द्धा, पक्षपातपूर्ण भावना रहती है। यह भावना यदा-कदा शत्रुता या वैर के रूप में भी हो सकती है। उदाहरण के लिए, हम इस पड़ोस के सदस्य हैं लेकिन, 'वो' पड़ोस बहुत भ्रष्ट और गन्दा है। वहाँ के रहने वाले जानवर से भी गए-गुजरे हैं। इसमें 'वो' समूह एक बाह्यसमूह है। शत्रु सेना, विदेशी समूह, प्रतिस्पर्द्धा करने वाले समूह आदि बाह्यसमूह के ही प्रमुख उदाहरण हैं।

अन्त:समूह एवं बाह्यसमूह में निम्नलिखित अन्तर पाए जाते हैं—

(i) अन्त:समूह को व्यक्ति अपना समूह मानता है अर्थात् इसके सदस्यों में अपनत्व की भावना पाई जाती है, जबकि बाह्यसमूह को व्यक्ति पराया समूह मानता है अर्थात् इसके सदस्यों के प्रति अपनत्व की भावना का अभाव पाया जाता है।

(ii) अन्त:समूह के सदस्यों में 'हम की भावना' पाई जाती है, जबकि उनमें बाह्यसमूह के सदस्यों के प्रति विरोधपूर्ण भावनाएँ पाई जाती हैं।

(iii) अन्त:समूह के सदस्यों में पाए जाने वाले सम्बन्ध घनिष्ठ होते हैं, जबकि बाह्यसमूह के सदस्यों के प्रति घनिष्ठता नहीं पाई जाती है।

(iv) अन्त:समूह के सदस्य अपने समूह के दु:खों एवं सुखों को अपना दु:ख एवं सुख मानते हैं, जबकि बाह्यसमूह के प्रति इस प्रकार की भावना का अभाव होता है।

(v) अन्त:समूह के सदस्य प्रेम, स्नेह, त्याग व सहानुभूति के भावों से जुड़े होते हैं, जबकि बाह्यसमूह के प्रति द्वेष, घृणा, प्रतिस्पर्द्धा एवं पक्षपात के भाव पाए जाते हैं।

(vi) अन्त:समूह के सदस्यों में अपने समूह के कल्याण के सामने व्यक्तिगत हितों की शिथिलता पाई जाती है, जबकि बाह्यसमूह के सदस्यों के प्रति सन्देह, घृणा एवं भेदभाव पाया जाता है।

(vii) अन्त:समूह का आकार तुलनात्मक रूप में छोटा होता है, जबकि बाह्यसमूह का आकार तुलनात्मक रूप से बड़ा होता है।

(viii) अन्त:समूह का लक्षण 'सामान्य हित' है, जबकि बाह्यसमूह का 'हितों में संघर्ष' है।

(2) कूले (Cooley) का वर्गीकरण

चार्ल्स कूले ने **प्राथमिक** (Primary) एवं **द्वितीयक** (Secondary) समूह में भेद किया है। इनके अनुसार, ''प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य उन समूहों से है जिनकी विशेषता आमने-सामने का घनिष्ठ सम्बन्ध और सहयोग है। इस प्रकार के समूह अनेक अर्थों में प्राथमिक होते हैं और वह भी मुख्यत: इस अर्थ में कि वे व्यक्ति के सामाजिक स्वभाव तथा आदर्शों के निर्माण में मूलभूत होते हैं।''

चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूहों के तीन प्रमुख उदाहरण दिए हैं—(1) परिवार (Family), (2) क्रीड़ा समूह (Play group), तथा (3) पड़ोस (Neighbourhood)। उन्होंने समूह का जो दूसरा विभाजन किया उसे द्वितीयक समूह कहते हैं। कूले के अनुसार द्वितीयक समूह ऐसे समूह हैं जिनमें घनिष्ठता का पूर्णत: अभाव पाया जाता है। इनमें सामान्यत: उन विशेषताओं का अभाव होता है जो कि अधिकांशत: प्राथमिक समूह में पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए, कॉरपोरेशन, श्रोतागण, क्लब, राष्ट्र, चर्च, व्यावसायिक संघ आदि द्वितीयक समूह ही हैं।

किंग्सले डेविस ने कूले की प्राथमिक समूह की परिभाषा की समीक्षा करते हुए हमारा ध्यान दो बातों की ओर दिलाया है—**प्रथम**, कूले ने वास्तविक समूहों (जैसे परिवार, क्रीड़ा समूह, पड़ोस आदि) को प्राथमिक समूह कहा है तथा **द्वितीय**, कूले ने एक ओर तो ''आमने-सामने की समिति'' वाक्यांश का प्रयोग किया है और दूसरी ओर सम्बन्धों के कुछ विशिष्ट गुणों; जैसे सहानुभूति तथा पारस्परिक तादात्म्य पर बल दिया है। **डेविस** के अनुसार इन दोनों से प्राथमिक समूह के बारे में कुछ भ्रान्ति उत्पन्न होती है। ये दोनों बातें कुछ अंशों में प्रत्येक समूह में पाई जाती हैं। इतना ही नहीं, अप्रत्यक्ष सम्बन्ध (जैसे पत्र व्यवहार द्वारा दो व्यक्तियों में मित्रता) तथा मित्रतापूर्वक एवं घनिष्ठ प्रत्यक्ष सम्बन्ध (जैसे वेश्यावृत्ति-ग्राहक या सैनिकों का अभिवादन) भी औपचारिक एवं अवैयक्तिक प्रकृति के हो सकते हैं।

प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों में अन्तर

प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों की विशेषताएँ पूर्णत: एक-दूसरे के विपरीत होती हैं। दोनों में निम्नलिखित प्रमुख आधारों पर अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) आकार—प्राथमिक समूह का आकार छोटा होता है। उदाहरण के लिए, परिवार, पड़ोस तथा मित्र-मण्डली का आकार सीमित है। **फेयरचाइल्ड** के अनुसार इसमें तीन-चार व्यक्तियों से लेकर पचास-साठ व्यक्तियों तक तथा **कूले** के अनुसार इसमें दो से साठ व्यक्तियों तक की संख्या हो सकती है। द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होता है। इसके सदस्यों की संख्या असीमित हो सकती है। सम्पूर्ण राष्ट्र भी एक द्वितीयक समूह है जिसकी संख्या असीमित होती है।

(2) सम्बन्ध—प्राथमिक समूह के सदस्यों में आमने-सामने के वैयक्तिक व घनिष्ठ सम्बन्ध पाए जाते हैं। वैयक्तिक सम्बन्धों के कारण इनमें औपचारिकता नहीं होती है। इसके विपरीत प्रेम, सहयोग, सद्भावना

आदि आन्तरिक गुणों का समावेश होता है। इनमें हम की भावना की प्रधानता रहती है। द्वितीयक समूह में अप्रत्यक्ष एवं अवैयक्तिक सम्बन्ध पाए जाते हैं। इनमें सहयोग, स्नेह, घनिष्ठता की कमी होती है और 'हम' के स्थान पर 'मैं' की प्रधानता रहती है।

(3) हित—प्राथमिक समूह में कोई विशेष हित नहीं होता है। सभी कार्यों में प्रत्येक सदस्य पूर्ण हृदय से हिस्सा लेते हैं। वे समूह के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार रहते हैं। द्वितीयक समूह में, जो कि विशेष स्वार्थ समूह के नाम से जाने जाते हैं, प्रत्येक सदस्य अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जी जान से कोशिश करता है। यदि उसे अपने हित के लिए दूसरे सदस्यों के हितों की अवहेलना भी करनी पड़ जाए तो भी वह इसके लिए तत्पर रहता है।

(4) सम्बन्धों का जन्म—प्राथमिक सम्बन्धों का जन्म स्वत: होता है। इस प्रकार के सम्बन्धों की स्थापना में किसी प्रकार की कोई शर्त या दबाव नहीं होता है। द्वितीयक समूह में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आडम्बर या कृत्रिमता का आश्रय लिया जाता है। इनमें प्राथमिक सम्बन्धों (जो कि आमने-सामने के सम्बन्ध हैं) के विपरीत, सम्बन्ध अप्रत्यक्ष अथवा दूर-संचार के माध्यम से होते हैं।

(5) दायित्व—प्राथमिक समूहों में दायित्व की कोई सीमा नहीं होती है। यह नहीं बताया जा सकता कि माँ अपने पुत्र के प्रति कितने दायित्वों को निभाएगी। द्वितीयक समूहों में सदस्यों का दायित्व सीमित व शर्तों या नियमों के अनुसार होता है।

(6) नियम—प्राथमिक समूह में किसी प्रकार का लिखित नियम नहीं होता है। ये समूह अनौपचारिक होते हैं। ये अपने सदस्यों पर कोई कानून या शर्त नहीं लगाते हैं। द्वितीयक समूह की प्रकृति औपचारिक है। इसमें अनेक प्रकार के नियम, कानून तथा कार्यविधियों को सदस्यों पर थोपा जाता है और नियम का उल्लंघन करने वालों को औपचारिक दण्ड मिलता है।

(7) नियन्त्रण—प्राथमिक समूहों में नियन्त्रण की प्रकृति अनौपचारिक होती है। निन्दा व तिरस्कार आदि के द्वारा सदस्यों का व्यवहार नियन्त्रित होता है। द्वितीयक समूहों के नियन्त्रण की प्रकृति औपचारिक होती है। द्वितीयक समूह अपने सदस्यों के व्यवहार पर नियन्त्रण कानून, पुलिस आदि द्वितीयक साधनों की सहायता से करता है।

(8) क्षेत्र—प्राथमिक समूह प्रत्येक काल व प्रत्येक समाज में पाए जाते हैं। अन्य शब्दों में, ये सार्वभौमिक होते हैं। ये समूह बहुत छोटे क्षेत्र में व्याप्त होते हैं। द्वितीयक समूह सार्वभौमिक नहीं होते हैं। इनका भौगोलिक क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत होता है। कोई-कोई द्वितीयक समूह सम्पूर्ण देश में भी फैला हो सकता है।

(9) प्रभाव—प्राथमिक समूह व्यक्ति के विचारों व मनोवृत्तियों को बनाते हैं, अत: इनका प्रभाव सर्वव्यापी होता है। द्वितीयक समूह विशेषीकृत समूह होते हैं और इनका प्रभाव कुछ विशेष क्षेत्रों तक ही सीमित रहता है।

(10) व्यक्तित्व—प्राथमिक समूह में व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण भाग समूह के सम्पर्क में आता है। इसीलिए प्राथमिक समूह के सदस्य एक-दूसरे के बारे में पूर्णतया परिचित होते हैं। द्वितीयक समूह के सदस्यों में व्यक्तित्व का केवल कुछ भाग ही समूह के सम्पर्क में आता है।

(11) कार्य—प्राथमिक समूह मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करता है या समाजीकरण करता है। **कूले** के अनुसार, ''यह मानव स्वभाव का निर्माण स्थल है।'' इसके विपरीत, द्वितीयक समूह व्यक्ति के व्यक्तित्व का विशेषीकरण करते हैं या विशेषीकरण करने वाले समूह हैं।

(12) सदस्यता—प्राथमिक समूह की सदस्यता अनिवार्य होती है। इसके कारण मनुष्य को अपने परिवार, खेल-समूह तथा पड़ोस में रहना पड़ता है। द्वितीयक समूह की सदस्यता अनिवार्य नहीं है। जब व्यक्ति यह महसूस करता है कि उसे हित विशेष को प्राप्त करना है, तभी वह द्वितीयक समूह का सदस्य बनता है।

(13) कार्य-क्षेत्र—प्राथमिक समूह का कार्य-क्षेत्र सीमित तथा कम होता है। द्वितीयक समूह का कार्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है।

(14) 'हम' की भावना—प्राथमिक समूह में हम की भावना पाई जाती है तथा व्यक्तियों के सम्बन्ध प्राथमिक होते हैं। द्वितीयक समूह में किसी प्रकार की हम की भावना नहीं पाई जाती है तथा सम्बन्ध गौण होते हैं।

(15) व्यक्तिगत एवं सामूहिक हित—प्राथमिक समूह समष्टिवादी होते हैं। इसी कारण सदस्यों के व्यक्तिगत हित सामूहिक हित में विलीन हो जाते हैं। द्वितीयक समूह व्यक्तिवादी होते हैं। इनमें सामूहिक हितों की अपेक्षा व्यक्तिगत हितों को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

(16) प्राचीनता—प्राथमिक समूह अत्यधिक प्राचीन हैं, शायद उतने ही जितना कि स्वयं मानव समाज। द्वितीयक समूह तुलनात्मक रूप में नए समूह हैं। जनसंख्या में वृद्धि, औद्योगिक क्रान्ति, सामाजिक गतिशीलता इत्यादि कारणों से आधुनिक समाजों में द्वितीयक समूहों की संख्या में वृद्धि हुई है।

समुदाय का अर्थ एवं परिभाषाएँ

'समुदाय' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'कम्यूनिटी' (Community) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है जोकि लैटिन भाषा के **'कॉम'** (*Com*) तथा **'म्यूनिस'** (*Munis*) शब्दों से मिलकर बना है। लैटिन में 'कॉम' शब्द का अर्थ **'एक साथ'** (Together) तथा 'म्यूनिस' का अर्थ **'सेवा करना'** (To serve) है, अत: 'समुदाय' का शाब्दिक अर्थ ही 'एक साथ सेवा करना' है। समुदाय व्यक्तियों का वह समूह है जिसमें उनका सामान्य जीवन व्यतीत होता है। समुदाय के निर्माण के लिए निश्चित भू-भाग तथा इसमें रहने वाले व्यक्तियों में सामुदायिक भावना होना अनिवार्य है।

प्रमुख विद्वानों ने समुदाय की परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी हैं—

(1) बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार—"समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें कुछ अंशों तक हम की भावना होती है तथा जो एक निश्चित क्षेत्र में निवास करता है।"

(2) डेविस (Davis) के अनुसार—"समुदाय सबसे छोटा वह क्षेत्रीय समूह है, जिसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन के समस्त पहलू आ सकते हैं।"

(3) ऑगबर्न एवं **निमकॉफ** (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार—"किसी सीमित क्षेत्र के अन्दर रहने वाले सामाजिक जीवन के सम्पूर्ण संगठन को समुदाय कहा जाता है।"

(4) मैकाइवर एवं **पेज** (MacIver and Page) के अनुसार—"जहाँ कहीं एक छोटे या बड़े समूह के सदस्य एक साथ रहते हुए उद्देश्य विशेष में भाग न लेकर सामान्य जीवन की मौलिक दशाओं में भाग लेते हैं, उस समूह को हम समुदाय कहते हैं।"

समुदाय की विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि समुदाय व्यक्तियों का एक विशिष्ट समूह है जोकि निश्चित भौगोलिक सीमाओं में निवास करता है। इसके सदस्य सामुदायिक भावना द्वारा परस्पर संगठित रहते हैं। समुदाय में व्यक्ति किसी विशिष्ट उद्देश्य की अपेक्षा अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रयास करते रहते हैं।

समुदाय की विशेषताएँ

समुदाय की प्रमुख विशेषताएँ निम्नवर्णित हैं—

(1) व्यक्तियों का समूह—समुदाय निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों का मूर्त समूह है। समुदाय का निर्माण एक व्यक्ति से नहीं हो सकता अपितु समुदाय के लिए व्यक्तियों का समूह होना आवश्यक है।

(2) सामान्य जीवन—प्रत्येक समुदाय में रहने वाले सदस्यों का रहन-सहन, भोजन का ढंग व धर्म सभी काफी सीमा तक सामान्य होते हैं। समुदाय का कोई विशिष्ट लक्ष्य नहीं होता है। समुदाय के सदस्य अपना सामान्य जीवन समुदाय में ही व्यतीत करते हैं।

(3) सामान्य नियम—जिन्सबर्ग ने इसे समुदाय की प्रमुख विशेषता माना है। समुदाय के समस्त सदस्यों के व्यवहार सामान्य नियमों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। जब सभी व्यक्ति सामान्य नियमों के अन्तर्गत कार्य करते हैं तब उनमें समानता की भावना का विकास होता है। यह भावना समुदाय में पारस्परिक सहयोग की वृद्धि करती है।

(4) विशिष्ट नाम—प्रत्येक समुदाय का कोई न कोई नाम अवश्य होता है। इसी नाम के कारण ही सामुदायिक एकता का जन्म होता है। समुदाय का नाम ही व्यक्तियों में अपनेपन की भावना को प्रोत्साहित करता है।

(5) स्थायित्व—समुदाय चिरस्थाई होता है। इसकी अवधि व्यक्ति के जीवन से लम्बी होती है। व्यक्ति समुदाय में जन्म लेते हैं, आते हैं तथा चले जाते हैं, परन्तु इसके बावजूद समुदाय का अस्तित्व बना रहता है। इसी कारण यह स्थायी संस्था है।

(6) स्वत: जन्म–समुदाय को विचारपूर्वक किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति हेतु निर्मित नहीं किया जाता है। इसका स्वत: विकास होता है। जब कुछ लोग एक स्थान पर रहने लगते हैं तो अपनेपन की भावना का जन्म होता है। इससे समुदाय के विकास में सहायता मिलती है।

(7) निश्चित भौगोलिक क्षेत्र—समुदाय का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि समुदाय के सभी सदस्य निश्चित भौगोलिक सीमाओं के अन्तर्गत ही निवास करते हैं।

(8) अनिवार्य सदस्यता—समुदाय की सदस्यता अनिवार्य होती है। यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं करती। व्यक्ति जन्म से ही उस समुदाय का सदस्य बन जाता है जिसमें उसका जन्म हुआ है। सामान्य जीवन के कारण समुदाय से पृथक् रहकर व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती है।

(9) सामुदायिक भावना—सामुदायिक भावना ही समुदाय की नींव है। समुदाय के सदस्य अपने हितों की पूर्ति के लिए ही नहीं सोचते। वे सम्पूर्ण समुदाय का ध्यान रखते हैं। हम की भावना, दायित्व तथा निर्भरता की भावना हैं जोकि सामुदायिक भावना के तीन तत्त्व हैं, समुदाय के सभी सदस्यों को एक सूत्र में बाँधने में सहायता देते हैं।

(10) आत्म-निर्भरता—सामान्य जीवन एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण समुदाय में आत्म-निर्भरता पाई जाती है। प्राचीन समाजों में समुदाय काफी सीमा तक आत्म-निर्भर थे, परन्तु आज यह विशेषता प्राय: समाप्त हो गई है। ●

भारतीय समाज में विविधता

यदि हम सांस्कृतिक विविधताओं पर दृष्टिपात करें, तो हमें चरम की विविधताएँ देखने को मिलती हैं। उदाहरणार्थ, एक ओर वे पर्दा करने वाली मुसलमान और हिन्दू स्त्रियाँ हैं जिनके शरीर का कोई अंग पर्दे के बाहर नहीं है तो दूसरी ओर, ऐसे नागा साधुओं का सम्प्रदाय भी है जो बिलकुल ही नंगे रहते हैं। एक ओर, ऐसे समूह हैं जो मांस तो क्या प्याज भी नहीं खाते, तो दूसरी ओर, ऐसे लोग भी हैं जो नित्य ही मांसाहार लेते हैं। परन्तु, यदि हम अपना ध्यान सांस्कृतिक एकता के सूत्रों पर केन्द्रित करें तो हमें हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक रहने वाले पूरे भारतीय समाज में जीवन के अन्तिम प्रश्नों को लेकर एक समानता दिखाई देती है। सभी कर्म और उसके फल में विश्वास करते हैं। सभी पराशक्तियों के सामने नमन करते हैं। सभी के हृदय में सम्पूर्ण भारत का एक अहसास है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भारत में ऐसे समय गुजरे हैं जब राजनीतिक एकता नहीं रही, लेकिन तब भी सांस्कृतिक एकता बनी रही है।

विविधता और एकता का सम्बन्ध बहुत पुराना है। प्रकृति का एक अटूट नियम है कि पहले विविधता होती है और वही बाद में एकता पैदा करती है। समाज का प्रारम्भ और विकास भी इसी सिद्धान्त के आधार पर हुआ है। समाज और सामाजिक जीवन इसलिए विकासोन्मुख है कि इनमें विभेदीकरण और एकीकरण की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती रहती हैं। यही कुछ भारतीय समाज और संस्कृति में भी हुआ है। विविधता ने भारतीय संस्कृति में एक अभूतपूर्व एकता उत्पन्न की है। भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता विविधता में एकता है। इसमें एकता के तत्त्व खोजने के पूर्व उसकी विविधताओं की जानकारी आवश्यक है। वास्तव में, यदि देखा जाए तो विविधता के तत्त्वों ने ही एकता पैदा की है जो अटूट है।

ऊपरी तौर पर देखने से हमें सर्वत्र विविधता के ही दर्शन होते हैं। भाषा, जाति, क्षेत्र, सम्प्रदाय, प्रजाति, धर्म के आधार पर विविधता की विभीषिका देखने को मिलती है। भारतीय समाज में पाई जाने वाली जातिगत विविधता; धार्मिक विश्वासों, संस्कारों एवं व्यवहार में विविधता तथा सांस्कृतिक प्रतिमानों में विविधता को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

(अ) भाषायी (Linguistic) विविधता

भाषा मनुष्य की अभिव्यक्ति का शायद सबसे शक्तिशाली माध्यम है। भाषा मुँह से बोली जाने वाली वाणी या संकेतों की एक व्यवस्था है। यह व्यवस्था प्रत्येक सामाजिक समूह में पाई जाती है। नई पीढ़ियाँ समाजीकरण के माध्यम से इसे सीखती हैं तथा परस्पर विचारों व भावनाओं का आदान-प्रदान कर अन्तर्क्रियाएँ करती हैं। **एस० सी० दुबे** (S. C. Dube) का कथन है कि भाषा के माध्यम से मानवीय विचारों का विस्तार सम्भव हुआ है। भाषा के ही माध्यम से मनुष्य ज्ञान एवं विज्ञान को विकसित कर पाने में सफल हुआ है। भाषा ही सम्पूर्ण मानव समाज को आगे बढ़ाती है, जीवन भर मानव समाज का साथ देती है और मानव को उसका अनुसरण करने के योग्य बनाती है। अत: स्पष्ट है कि मानव समाज के पास भाषा वह महत्त्वपूर्ण माध्यम है जिसके कारण वह हजारों वर्षों से संचित ज्ञान को संस्कृति (भौतिक व अभौतिक) के रूप में हस्तान्तरित करने में सफल रहा है। वस्तुत: भाषा मानव समाज की प्रगति का आधार स्तम्भ है। भाषा ही मानव समाज में संस्कृति का निर्माण, विकास, विस्तार व परिवर्तन करती है।

भारत में प्राकृतिक अलगाव के कारण इस देश में प्राय: प्रत्येक दस मील पर भाषा और बोली में अन्तर पाया जाता है। 1961 ई० की जनगणना के अनुसार देश में 1,652 भाषाएँ बोली जाती थी। इनमें से 23 भाषाएँ देश की 97 प्रतिशत जनसंख्या द्वारा बोली जाती हैं। भारतीय संविधान की 8वीं अनुसूची में पहले केवल 14 भाषाओं का ही उल्लेख किया गया है जिनकी संख्या अब बढ़कर 22 हो गई है, परन्तु इनके अतिरिक्त भी ऊपर दर्शाई गई संख्या के अनुसार भारत में भाषाएँ और बोलियाँ हैं जिनका कुछ-न-कुछ साहित्य है। वैसे तो अधिकांश भाषाएँ लिपि-रहित हैं, परन्तु कुछ की लिपियाँ भी हैं और समृद्ध साहित्य भी। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे देश और समाज में अत्यधिक भाषागत विविधता है।

इरावती कर्वे (Irawati Karve) के अनुसार भारतीय समाज में तीन भाषायी परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं—

(अ) इण्डो-यूरोपीय भाषायी परिवार—इसमें पंजाबी, सिन्धी, हिन्दी, बिहारी, बांगला, असमिया राजस्थानी, गुजराती, मराठी, उड़िया, कश्मीरी इत्यादि भाषाएँ सम्मिलित हैं।

(ब) द्रविड़ भाषायी परिवार—इसमें तेलुगु , कन्नड़, तमिल, मलयालम, कोडगू, गोंड़ी इत्यादि भाषाएँ आती हैं।

(स) आस्ट्रो-एशियायी भाषायी परिवार—इसमें मुण्डारी, वौन्दो, जुआंग, भूमिया, सन्थाली, खासी इत्यादि भाषाएँ आती हैं।

(ब) जातिगत (Caste-based) विविधता

भारतीय समाज और संस्कृति में जातिगत विविधता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। यद्यपि यह विविधता प्राकृतिक या बाह्य कारणों से नहीं वरन् हिन्दू संस्कृति की ही देन है, तथापि अलगाव और सामाजिक जीवन के खण्डात्मक विभाजन की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। **पी० सी० चटर्जी** (P. C. Chatterji) के अनुसार जातिगत विविधता एवं असमता के कारण भारत में आरक्षण की नैतिक समस्या आज भी चर्चा का विषय है।

जाति भारतीय सामाजिक संरचना की एक अनुपम एवं बहुचर्चित विशेषता है जो कि हिन्दू धर्म द्वारा पूर्णत: अनुमोदित है। **रोनाल्ड सीगल** (Ronald Segal) के अनुसार, ''यह जाति का व्यापक महत्त्व है जो अन्य किसी भी चीज से कहीं अधिक भारत का चरित्र-चित्रण करता है..... और भारत में जाति सार्वभौम है। यह व्यवहार में अत्यधिक हिन्दू है परन्तु यह मात्र ऐसी ही नहीं है।'' यह व्यवस्था **मेगस्थनीज** के समय से लेकर आज तक किसी भी विदेशी का ध्यान आकर्षित करने से नहीं चूकी है। आर्यों के पूर्वकाल में भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था का प्रचलन था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण ही आर्यों के आने के पश्चात् अनेक जातियों में परिवर्तित हो गए। आज भारतवर्ष में लगभग तीन हजार जातियाँ व उपजातियाँ हैं और समाजशास्त्रीय दृष्टि से इनका अध्ययन अत्यावश्यक है। जाति व्यवस्था यद्यपि भारतीय समाज की एक अनुपम विशेषता है, तथापि यह नेपाल तथा अन्य देशों, जहाँ पर हिन्दुओं की संख्या काफी है, में भी पाई जाती है। जाति व्यवस्था, एक ओर, हिन्दू सामाजिक संरचना के प्रकार को प्रकट करती है, तो दूसरी ओर, हिन्दुओं के आचरण को भी निश्चित करती है।

जे० एच० हट्टन (J. H. Hutton) के अनुसार भारतवर्ष में करीब 3,000 से भी अधिक जातियाँ और उपजातियाँ हैं। इनकी उत्पत्ति इसी समाज के भीतर हुई है, परन्तु सामाजिक सम्मिलन की दृष्टि से जातिगत विविधता ने भारतीय समाज में बड़ा अलगाव पैदा किया है। विवाह, अस्पृश्यता (छुआछूत), जाति के प्रति वफादारी (जातिवाद), दूसरी जातियों के प्रति ऊँच-नीच की भावना और उससे उत्पन्न घृणा आदि के कारण भी भारतीय समाज में जातिगत विविधता महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

यद्यपि जाति हिन्दू सामाजिक संरचना की सबसे प्रमुख पहचान है, तथापि कोई भी इसके प्रभाव से अछूता नहीं रहा है। मुस्लिम, ईसाई, यहूदी सभी, विभिन्न मात्राओं में, इसके प्रभाव के आगे परास्त हो गए हैं। यह तो भारत में स्वयं जिन्दगी की मौलिक लय है। ऐसा कहा जाता है कि भारत की वायु में 'जाति' है। जो भी यहाँ साँस लेता है, जाति के तत्त्व उसमें प्रवेश कर जाते हैं। इसीलिए **कोनिग** (Koenig) ने लिखा है कि, ''जाति की प्रतिष्ठित भूमि भारत है।'' जाति व्यवस्था एक वह केन्द्रीय धुरी है जिसके चारों ओर सदियों से भारतीय समाज गतिमान रहा है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सांस्कारिक रूप में जाति की पारम्परिक संरचना का ह्रास हुआ है, परन्तु जातिवाद के रूप में वह और भी प्रबल हुई है। जातियों के अखिल भारतीय संघ बने हैं जो राजनीतिक प्रक्रिया में दबाव समूहों के रूप में भाग लेते हैं। राजनीतिक दल भी चुनाव के दौरान जातिवाद का उपयोग करते हैं। इस समय उत्तर प्रदेश की राजनीति में जातिवाद के आधार पर सत्ता के लिए प्रतियोगिता स्पष्टत: देखी जा सकती है। दक्षिण में तमिलनाडु की राजनीति को ब्राह्मणों एवं गैर-ब्राह्मण जातियों के टकराव के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। जातिवाद साम्प्रदायिकता का ही दूसरा रूप है। बिहार में सवर्ण जातियों द्वारा दलितों एवं अनुसूचित जातियों पर होने वाले क्रूर अत्याचार इस जातिवाद का ही परिणाम है। अपनी जाति को ही श्रेष्ठ समझना और दूसरी जातियों की कीमत पर अपनी जाति के भले की सोचना, यही जातिवाद है और ऐसी भावना सांस्कृतिक एकता को आघात पहुँचाएगी ही। इसलिए इसका निराकरण आज राष्ट्रीय महत्त्व का प्रश्न है।

भारत में जातीय आधार पर सांस्कृतिक विविधता के परिणामस्वरूप आज भी विभिन्न जातियों में ऊँच-नीच की भावनाएँ पाई जाती हैं। प्रबल या प्रभु जातियों ने ग्रामीण-स्तर पर राष्ट्र-निर्माण एवं विकास कार्यों में अधिक सहयोग नहीं दिया है तथा कहीं-कहीं तो समस्त लाभ इन्हीं जातियों के लोगों तक सीमित रहे हैं।

इससे अन्तर्जातीय संघर्ष में वृद्धि हुई है। अभी भी निम्न जातियों पर हो रहे अत्याचार जातिवाद का परिणाम हैं। भारत में जातीय विविधता एवं असमता बने रहने का एक प्रमुख कारण जातिवाद है जो कम होने की बजाय निरन्तर बढ़ता जा रहा है। राजनीतिक दल भी जातिवाद का सहारा लेते हैं तथा जातीय आधार पर वोट बैंक बनाकर अपने हितों की पूर्ति करते हैं।

अपनी जाति के प्रति बढ़ती हुई निष्ठा के कारण जातिवाद की गम्भीर समस्या आज हमारे सामने है। चुनावों, नौकरियों, शिक्षा संस्थाओं आदि में आज जातिवाद का बोलबाला है। जातिवाद व्यक्ति की निष्ठा अपनी जाति तक ही सीमित रखने में सहायक है तथा इस संकीर्णता के कारण राष्ट्र के प्रति निष्ठा एवं प्रतिबद्धता की भावनाओं का विकास नहीं हो पाता है। जातिवाद में सामाजिक मान्यताओं (यथा न्याय, उचितता, समता तथा सर्वव्यापी भ्रातृत्व आदि) की भी उपेक्षा की जाती है जो कि राष्ट्र-निर्माण के लिए उचित नहीं है। जातिवाद को राष्ट्र-निर्माण में ही नहीं अपितु प्रजातन्त्रीय व्यवस्था को दृढ़ बनाने, नैतिक उत्थान तथा राष्ट्रीय एकीकरण में भी बाधक बताया गया है।

जातीय विविधता ने भारतीय समाज को बुरी तरह से प्रभावित किया है। ऊँच-नीच पर आधारित होने के नाते वैसे भी जाति गैर-प्रजातान्त्रिक मानी जाती है। भारत जैसे प्रजातान्त्रिक देश में इसका कोई स्थान नहीं होना चाहिए, परन्तु राजनीति ने इस व्यवस्था को पुनर्जीवित एवं सुदृढ़ बना दिया है। इससे व्यक्तियों में देश-भक्ति की भावना विकसित नहीं होती और अस्पृश्यता जैसी बुराई को बढ़ावा मिलता है। अस्पृश्यता के कारण ही अनेक जातियाँ, जिन्हें आज 'अनुसूचित जातियों' की श्रेणी में रखा जाता है, मध्यम एवं उच्च श्रेणी की जातियों से पिछड़ी हुई रही हैं तथा आज भी शिक्षा एवं रोजगार में इनका प्रतिनिधित्व काफी कम है। जातिवाद के रूप में जातीय विविधता राष्ट्रीय विकास में बाधक है। संकीर्णता एवं स्थानीयता के विचारों को प्राथमिकता देने के कारण ही जातीय विविधता से राष्ट्र-निर्माण एवं राष्ट्रीय चरित्र का विकास भी ठीक तरह से नहीं हो पाता है।

(स) क्षेत्रीय (Regional) विविधता

भारतीय सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा 2012 ई० में प्रकाशित वार्षिक सन्दर्भ ग्रन्थ **'भारत 2012'** के अनुसार भारतवर्ष का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 32,87,263 वर्ग किलोमीटर है जो हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों से लेकर दक्षिण के उष्ण-कटिबन्धीय सघन वनों तक फैला हुआ है। यह संसार का क्षेत्रफल की दृष्टि से सातवाँ बड़ा प्रायद्वीप तथा जनसंख्या की दृष्टि से दूसरा बड़ा देश है जो कि अनेक प्रान्तों और केन्द्रशासित प्रदेशों में विभाजित है। प्राकृतिक दृष्टि से यहाँ की जलवायु मोटे रूप से उष्म-कटिबन्धीय है और इसमें भी बड़ी विविधता है। असम जैसे राज्य में घनी वर्षा के क्षेत्र हैं, तो राजस्थान में मरुस्थलीय क्षेत्र का बाहुल्य है। यहाँ चार ऋतुएँ होती हैं—शीत ऋतु (जनवरी-फरवरी), ग्रीष्म ऋतु (मार्च-मई), वर्षा ऋतु या दक्षिण-पश्चिम मानसून का समय (जून-सितम्बर) और मानसून-पश्चात् ऋतु जिसे दक्षिण प्रायद्वीप में उत्तर-पूर्व मानसून का मौसम भी कहा जाता है (अक्टूबर-दिसम्बर)। भारत की जलवायु पर दो प्रकार की मौसमी हवाओं का प्रभाव पड़ता है—उत्तर-पूर्वी मानसून तथा दक्षिण-पश्चिमी मानसून। उत्तर-पूर्वी मानसून को आमतौर पर शीत-मानसून कहा जाता है। ये हवाएँ स्थल से समुद्र की ओर बहती हैं जो हिन्द महासागर, अरब सागर और बंगाल की खाड़ी को पार करके आती हैं। देश में अधिकांश वर्षा दक्षिण-पश्चिमी मानसून से ही होती है।

इसकी मुख्य भूमि चार स्पष्ट खण्डों में बँटी हुई है—विस्तृत पर्वतीय प्रदेश, सिन्धु और गंगा के मैदान, रेगिस्तानी क्षेत्र और दक्षिणी प्रायद्वीप। कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ की भूमि में बड़ी विविधताएँ हैं। ये क्षेत्रीय विविधताएँ जीवन की व्यवस्थाओं में भी अन्तर पैदा करती हैं क्योंकि इनका प्रभाव भाषा, धर्म, पूजा-विधि इत्यादि विविध क्षेत्रों पर पड़ता है। वनों ने प्राय: यहाँ की जनसंख्या को कई टुकड़ों में बाँट दिया है जो कि सामाजिक जीवन की दृष्टि से पूर्णत: अलग-अलग हैं। इसकी विशालता का आभास इससे भी किया जा सकता है कि इसकी उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम की लम्बाई क्रमश: 3,214 एवं 2,933 किलोमीटर है। यह पूर्णतया उत्तरी गोलार्द्ध में स्थित है। इसकी मुख्य भूमि 8 4 और 37 6 उत्तरी अक्षांश और 68 7 और 97 25 पूर्वी देशान्तर के बीच फैली हुई है। इसकी भूमि सीमा लगभग 15,200 किलोमीटर है। मुख्य भूमि, लक्षद्वीप समूह और अण्डमान-निकोबार द्वीप समूह के समुद्र तट की कुल लम्बाई 7516·6 किलोमीटर है। सारा देश विभिन्न प्राकृतिक सम्पदा को अपने में समेटे हुए है। यह विशालता और भौगोलिक अलगाव मानव समूहों में परिवर्तन पैदा करने में सक्षम है। आज के युग में भी यदि व्यक्ति देश के एक भाग से दूसरे भाग में जाता है तो

वह अजनबीपन-सा अनुभव करता है। इस भौगोलिक विविधता के कारण ही आज देश में भाषा के आधार पर क्षेत्रीयता, उद्योगों की स्थापना में क्षेत्रीयता, पदों के सम्बन्ध में क्षेत्रीयता की आवाज उठने लगी है।

क्षेत्रीय विविधता की दृष्टि से भारतीय संस्कृति को ग्रामीण, नगरीय तथा जनजातीय संस्कृतियों में विभाजित किया जा सकता है। तीनों में खानपान व पहनावे में, प्रथाओं एवं रीति-रिवाजों में विविध प्रकार की भिन्नताएँ पाई जाती हैं। जनजातियों का पहनावा ही अपनी पृथकता लिए हुए नहीं है, अपितु जनजाति के लोग धर्म तथा जादू द्वारा बीमारियों तक का इलाज करते हैं। विवाह के क्षेत्र में भी विविधता पाई जाती है। गाँवों में आज भी कृषि व्यवसाय एवं संयुक्त परिवार प्रणाली की प्रधानता पाई जाती है, जबकि नगरीय संस्कृति में औद्योगीकरण एवं पश्चिमीकरण की स्पष्ट छाप दैनिक जीवन-शैली में देखी जा सकती है। खानपान और वेशभूषा को लेकर भी समाज में श्रेष्ठता और निम्नता के भाव जुड़े हैं। जैसे—हिन्दुओं में मांसाहार तामसिक भोजन माना जाता है या पान, सिगरेट, शराब आदि का सेवन व्यक्ति को चारित्रिक दृष्टि से हीन बनाता है।

एस० सी० दुबे (S. C. Dube) ने भारतीय संस्कृति में पाई जाने वाली विविधताओं को निम्नांकित छह प्रकार के रीति-रिवाजों में वर्गीकृत करके बताया है—

(i) शास्त्रीय रीति-रिवाज,
(ii) क्षेत्रीय रीति-रिवाज,
(iii) स्थानीय रीति-रिवाज,
(iv) पाश्चात्य रीति-रिवाज,
(v) नवोदित राष्ट्रीय रीति-रिवाज तथा
(vi) विशेष समूहों के उप-सांस्कृतिक रीति-रिवाज।

इस भौगोलिक एवं क्षेत्रीय विविधता ने विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्ट सांस्कृतिक समूहों के विकास को प्रेरित किया है। ये सांस्कृतिक समूह एक लम्बा इतिहास रखते हैं और अपनी पृथक् अस्मिता का गौरव भी महसूस करते हैं। समकालीन भारत में इन क्षेत्रीय उपसंस्कृतियों ने उपराष्ट्रवाद का रूप धारण कर लिया है जिससे नदियों के पानी या कुछ गाँवों को लेकर दो प्रदेशों के बीच उग्र विवाद छिड़ जाता है। 'भूमि-पुत्र' का सिद्धान्त भी इसी क्षेत्रवाद का परिणाम है जिसका मूल आधार यह है कि एक प्रदेश में रहने वालों को अपने प्रदेश में रोजगार और व्यवसाय में प्राथमिकता दी जाए। यह सिद्धान्त पूरे राष्ट्र के लिए एक चुनौती बन गया है। हम अपने को बंगाली, पंजाबी, तमिल या गुजराती मानें, इसमें तो कोई आपत्तिजनक बात नहीं, बशर्ते कि हम अपने को पहले भारतीय होने में गर्व महसूस करें। **दादाभाई नौरोजी** ने इस भावना को व्यक्त करते हुए घोषण की थी कि, ''हमें हमेशा याद रखना चाहिए कि हम सभी अपनी मातृभूमि की सन्तान हैं।.....भारत हमारा देश है और भारतीयता हमारी राष्ट्रीयता है।''

(द) धार्मिक विश्वासों एवं व्यवहार (Religious Beliefs and Practices) में विविधता

भारतीय समाज और जनजीवन में धार्मिक विविधता भी बहुत है। इसी विविधता के परिणामस्वरूप विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायियों के धार्मिक विश्वासों एवं संस्कारों में भी अनेक रूपता पाई जाती है। विश्व के सभी प्रमुख धर्मों के अनुयायी भारत में रहते रहे हैं और अपनी धार्मिक विशेषताओं को कायम करने का प्रयास करते रहे हैं। इसी कारण, यह समाज धर्म की दृष्टि से अनेक वर्गों में विभक्त होता गया। इतना ही नहीं, हिन्दू धर्म स्वयं बहुदेववादी होने के कारण बहुत-से सम्प्रदायों और पन्थों में विभक्त हो गया।

एम० एन० श्रीनिवास (M. N. Srinivas) ने भारतीय समाज की इस धार्मिक विविधता पर टिप्पणी करते हुए बहुत उचित लिखा है कि, ''विभिन्न जातियों और जनजातियों के धर्म का अध्ययन विभिन्न तत्त्वों को प्रकट करता है।'' इसके अनुसार, भारतीय जनगणना में दस विभिन्न धार्मिक समूह भारत में विद्यमान बताए गए हैं—हिन्दू, सिक्ख, जैन, बौद्ध, पारसी (जरथुस्त्र-धर्मावलम्बी), इस्लाम, ईसाई, यहूदी तथा अन्य जनजातियों के धर्म तथा गैर-जनजातियों के अन्य धर्म। यह धार्मिक विविधता भारतीय समाज के अध्ययन हेतु बहुलवादी दृष्टिकोण अपनाना अनिवार्य बना देती है।

धार्मिक पहचान पर आधारित आक्रामक उग्रवाद को सामान्य बोलचाल की भाषा में सम्प्रदायवाद या साम्प्रदायिकता कहते हैं। उग्रवाद अपने आप में एक ऐसी मनोवृत्ति है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने ही समूह को वैध या श्रेष्ठ समूह मानता है और अन्य समूहों को निम्न, अवैध अथवा विरोधी समझता है। अन्य

शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिकता एक आक्रामक राजनीतिक विचारधारा है जो धर्म से जुड़ी होती है।

1961 ई० से 2011 ई० की जनगणना के अनुसार भारत में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का कुल जनसंख्या में प्रतिशत को निम्नांकित तालिका में दर्शाया गया है—

तालिका–2 :1961 ई० से 2011 ई० की जनगणना के अनुसार भारत में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का कुल जनसंख्या में प्रतिशत

धार्मिक सम्प्रदाय	कुल जनसंख्या में प्रतिशत					
	1961	**1971**	**1981**	**1991**	**2001**	**2011**
हिन्दू	83·5	82·7	82·6	82·41	80·46	79·8
इस्लाम	10·7	11·2	11·4	11·67	13·43	14·2
ईसाई	2·4	2·6	2·4	2·32	2·34	2·3
सिक्ख	1·8	1·9	2·0	1·99	1·87	1·7
बौद्ध	0·7	0·7	0·7	0·77	0·77	0·7
जैन	0·5	0·5	0·5	0·41	0·41	0·4
अन्य	0·4	0·4	0·4	0·43	0·62	0·9
कुल	**100·0**	**100·0**	**100·0**	**100·00**	**100·00**	**100·00**

स्रोत : ***भारत की जनगणना, 2001,*** ऑफिस ऑफ रजिस्ट्रार जनरल एण्ड सेन्सस कमीश्नर, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ 1 and ***The Times of India***, August 26, 2015, p. 1..

आज का भारतीय समाज प्रमुख रूप से हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, सिक्ख, ईसाई आदि धर्मों में बँटा हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य छोटे-छोटे सम्प्रदायों की संख्या सैकड़ों में होगी। सभी धर्मों की अपनी अलग-अलग उपासना-विधि है, अलग परम्पराएँ और प्रथाएँ हैं। यह अन्तर रहन-सहन और खान-पान की व्यवस्था तथा प्रतिदिन के व्यवहार में भी स्पष्टत: परिलक्षित होता है। इस प्रकार, साधारण रूप में भारतीय समाज अनेक सम्प्रदायों और धर्मों में विभक्त है। जितने भी विदेशी धर्म भारत में आए उनका स्थायी अस्तित्व यहाँ बना रहा है। वे हिन्दू धर्म से प्रभावित तो हुए लेकिन उनका निजी अस्तित्व पृथक् बना रहा है। धर्मों की यह विविधता केवल वर्तमान में ही नहीं है, वरन् अत्यन्त पुराने समय से चली आ रही है।

भारतीय समाज के सन्दर्भ में यह तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि भारत एक बहुलवादी समाज है। इस समाज में प्रजातीय एवं जातीय विविधता ही नहीं अपितु धार्मिक विविधता भी है। विश्व के सभी प्रमुख धर्म भारत में विद्यमान हैं। **एम० एन० श्रीनिवास** (M. N. Srinivas) ने भारतीय समाज की इस धार्मिक विविधता पर टिप्पणी करते हुए बहुत उचित लिखा है कि, ''विभिन्न जातियों और जनजातियों के धर्म का अध्ययन विभिन्न तत्त्वों को प्रकट करता है।'' इसके अनुसार, भारतीय जनगणना में दस विभिन्न धार्मिक समूह भारत में विद्यमान बताए गए हैं—हिन्दू, सिक्ख, जैन, बौद्ध, पारसी (जरथुस्त्र-धर्मावलम्बी), इस्लाम, ईसाई, यहूदी तथा अन्य जनजातियों के धर्म तथा गैर-जनजातियों के अन्य धर्म। वस्तुत: भारतीय समाज में सभी प्रमुख धर्मों के लोग निवास करते हैं तथा वे अपनी धार्मिक विशेषताओं को बनाए रखने का प्रयास करते रहे हैं। हिन्दू बहुसंख्यक तो हैं परन्तु वे बहुदेववादी होने के कारण बहुत से सम्प्रदायों और पन्थों में विभाजित हैं। सभी धर्मों की अपनी अलग-अलग उपासना विधि है, अलग परम्पराएँ और प्रथाएँ हैं। यह अन्तर रहन-सहन और खान-पान की व्यवस्था तथा प्रतिदिन के व्यवहार में भी स्पष्टत: परिलक्षित होता है। जो विदेशी मूल के धर्म भारत में आए वे भी आज भारतीय समाज के अभिन्न अंग बन गए हैं।

धार्मिक विविधता धर्म से सम्बन्धित विश्वासों एवं संस्कारों में भी अन्तर पैदा कर देती है। उदाहरणार्थ, इस्लाम धर्म के अनुयायी एकेश्वरवाद में विश्वास करते हैं, जबकि हिन्दू धर्म के अनुयायी बहुईश्वरवाद में विश्वास रखते हैं। मुसलमानों में पाए जाने वाले संस्कार इस्लाम की मान्यताओं के अनुरूप हैं, जबकि हिन्दुओं में पाए जाने वाले संस्कार हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों में प्रतिपादित आदर्शों पर आधारित हैं। इसी भाँति, जैनियों एवं बौद्ध धर्म के अनुयायियों के विश्वास एवं संस्कार क्रमश: जैन एवं बौद्ध धर्म की मान्यताओं पर आधारित हैं। ईसाइयों के विश्वास एवं मान्यताएँ ईसाई धर्म के कैथोलिक एवं प्रोटेस्टैण्ट सम्प्रदायों के अनुरूप हैं। विवाह की दृष्टि से संस्कारों की भिन्नता है। हिन्दुओं में विवाह एक धार्मिक संस्कार है, तो मुसलमानों में यह एक सामाजिक समझौता माना जाता है। हिन्दुओं में कानूनी रूप से एक विवाह का प्रावधान है, तो मुसलमानों में कानूनी रूप से बहुपत्नी प्रथा को मान्यता प्राप्त है। मुसलमानों एवं ईसाइयों में विवाह-विच्छेद अपेक्षाकृत सरल है, जबकि हिन्दुओं में इसकी प्रक्रिया काफी जटिल है।

धार्मिक विविधता भी खान-पान, पहनावे एवं व्यवहार में भी भिन्नता को प्रोत्साहन देती है। उदाहरणार्थ, भोजन शाकाहारी होना चाहिए या मांसाहारी, यह काफी सीमा तक धार्मिक मान्यताओं एवं आदर्शों द्वारा निर्धारित होता है। उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत में खान-पान में काफी अन्तर है। समुद्र तट के निकट रहने वाले लोग चावल एवं मछली अधिक खाते हैं। इसी भाँति, पहाड़ों में रहने वाले काफी लोग मांसाहारी हैं। मुसलमानों में महिलाएँ परदा करती हैं तथा बाहर निकलने पर बुर्के का प्रयोग करती रही हैं। यह प्रथा आज भी अनेक मुस्लिम परिवारों में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। परदा प्रथा के कारण मुस्लिम परिवारों में शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार कम हुआ है जिसके परिणामस्वरूप वे अन्य धार्मिक सम्प्रदायों से शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। हिन्दुओं में महिलाओं में परदा प्रथा समाप्तप्राय हो चुकी है। पश्चिमीकरण एवं आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं का प्रभाव हिन्दू महिलाओं पर मुस्लिम महिलाओं की तुलना में अधिक पड़ा है। धार्मिक मान्यताएँ जीवन के प्रति दृष्टिकोण तथा विश्व-दृष्टि को भी प्रभावित करती हैं। उदाहरणार्थ, सीमित परिवार एवं परिवार नियोजन हिन्दुओं और ईसाइयों में अधिक सफल रहा है तथा मुस्लिम परिवार अभी भी परिवार नियोजन के प्रति अधिक सचेत नहीं हैं।

वैवाहिक मान्यताओं में अन्तर के कारण ईसाइयों में लिंग अनुपात सर्वाधिक है, जबकि सिक्खों एवं हिन्दुओं में यह निरन्तर कम होता जा रहा है। सिक्खों में निरन्तर कम होता लिंगानुपात चिन्ता का विषय बना हुआ है। बौद्ध एवं जैन धर्म के अनुयायियों में लिंगानुपात राष्ट्रीय अनुपात से अधिक है। इसी भाँति, धर्म के आधार पर जन्म-दर में भी स्पष्ट रूप से अन्तर पाया जाता है। मुसलमानों में जन्म-दर अधिक है जिसके कारण अन्य धर्मों की तुलना में मुस्लिम जनसंख्या में वृद्धि की दर अधिक है। अनेक विद्वान् मुसलमानों के पिछड़ेपन का कारण धार्मिक मान्यताएँ ही मानते हैं। भारत की अनेक जनजातियों में जन्म-दर बहुत कम है तथा उनकी जनसंख्या में चिन्ताजनक ह्रास हो रहा है।

भारतीय समाज : विविधता में एकता

किसी भी देश की मौलिक एकता का सम्बन्ध उस देश की जनता द्वारा सांस्कृतिक मूल्यों एवं आदर्शों को स्वीकार करना तथा उनके अनुरूप व्यवहार करना है। किसी भी देश की एकता तभी तक जीवित रह सकती है जब तक उस देश की संस्कृति अपने आदर्शों में बँधी रहती है। विविधताओं में एकता उत्पन्न करना संस्कृति का एक विशेष गुण होता है। भारतीय समाज एवं संस्कृति में भी अनेक प्रकार की विविधताएँ पाई जाती हैं। भौगोलिक, जनसंख्यात्मक, धार्मिक, भाषायी, प्रजातीय तथा अनेक अन्य सांस्कृतिक विविधताओं के बावजूद इसमें मौलिक एकता विद्यमान है और इस एकता को बनाए रखने में सहनशीलता, अनुकूलनशीलता, ग्रहणशीलता इत्यादि विशेषताओं ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। अत: संक्षेप में, मौलिक एकता का अर्थ है किसी भी देश के विभिन्न वंशों, वर्णों, जातियों, धर्मों, भाषाओं, रीति-रिवाजों, वस्त्राभूषणों तथा अन्य विभिन्नताओं वाले समूहों में एकीकरण तथा समन्वय की स्थापना करना। एकता एक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक स्थिति है जिसमें 'एक होने की भावना' ('हम एक हैं') निहित होती है। भारतीय संस्कृति ने इसी मौलिक एकता के कारण ही हजारों वर्षों तक अपने अस्तित्व को बनाए रखा है। इस सन्दर्भ में **पण्डित जवाहरलाल नेहरू** ने उचित ही कहा था कि ''युग-युगान्तर से भारत की मौलिकता ही उसका महानतम तत्त्व रहा है।'' समयानुसार परिवर्तन से भी इसकी मौलिक एकता पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है। **मैक्स मूलर** जैसे पश्चिमी विद्वानों ने भी इस मत को स्वीकार किया है।

भारतीय संस्कृति में विविधताओं के बावजूद इसके तल में मौलिक एकता विद्यमान है। इसीलिए 'विविधता में एकता' भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता मानी जाती है तथा इसे 'भारतीय संस्कृति की आत्मा' भी कहा जाता है। इस सन्दर्भ में **रिजले** (Risley) का कथन है कि ''शारीरिक, सामाजिक, भाषा, रीति-रिवाज और धर्म की बहुविध विविधता के भीतर देखने वाले को आश्चर्यचकित कर देने वाली जीवन की वह एकरूपता भी मौजूद है जिसे सरलता से हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक देखा जा सकता है।'' इसी भाँति, **स्मिथ** (Smith) ने कहा है कि, ''भारत की मौलिक एकता इस तथ्य पर आधारित है कि भारत के विभिन्न लोगों ने मिलकर एक ऐसी विशिष्ट व अनोखी संस्कृति को जन्म दिया है जो शेष संसार से सर्वथा भिन्न है।'' भारतवासियों में जीवन के विभिन्न पहलुओं—उत्सवों, धार्मिक संस्कारों और सामाजिक क्रियाकलापों में सांस्कृतिक एकता ही दिखाई पड़ती है। भारतीय संस्कृति में एकता का आधार राजनीतिक या भौगोलिक न होकर सांस्कृतिक रहा है।

भारतीय समाज में सांस्कृतिक विविधता के बावजूद मौलिक एकता पाई जाती है जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(1) भू-राजनीतिक एकता—भारत में एकता की पहली कड़ी इसकी भू-राजनीतिक अखण्डता में देखने को मिलती है। इस एकता की भावना की अभिव्यक्ति ऋग्वेद, संस्कृत साहित्य, सम्राट अशोक के शिलालेखों, बुद्धकालीन स्मारकों और विभिन्न अन्य स्रोतों में देखी जा सकती है। भारत की भू-राजनीतिक एकता के आदर्श की अभिव्यक्ति भारतवर्ष (भारत के प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त नाम), चकव्रर्ती (सम्राट) तथा एकचक्राधिपत्य (एक शासन के अधीन) की संकल्पनाओं से हुई है।

भौगोलिक दशाओं ने भारत को निश्चित सीमाएँ प्रदान की हैं। भारत अपनी भौगोलिक एकता के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ एक छोर पर हिमालय है तो दूसरे छोर पर खुला समुद्र। इसीलिए भारत की भौगोलिक एकता व प्रादेशिक अखण्डता को स्थायी रूप से भंग करने में आज तक कोई सफल नहीं हुआ है। राजनीतिक रूप से भारत एक सार्वभौमिकता सम्पन्न राष्ट्र है। इसके प्रत्येक भाग का प्रशासन एक ही संविधान तथा एक ही संसद द्वारा होता है। सभी भारतीय एक ही तरह की राजनीतिक संस्कृति के सहभागी हैं जिस पर प्रजातन्त्र, धर्मनिरपेक्षता एवं समाजवाद के प्रतिमानों की छाप है।

(2) तीर्थाटन-संस्कृति—भारत की एकता का दूसरा स्रोत तीर्थाटन- संस्कृति है जो देव-स्थलों और तीर्थ-स्थानों में सहज परिलक्षित होती है। देश के उत्तर में केदारनाथ-बदरीनाथ से लेकर दक्षिण में रामेश्वरम, पूर्व में जगन्नाथपुरी से लेकर पश्चिम में द्वारका तक धार्मिक देव-स्थल और पवित्र नदियाँ फैली हुई हैं। तीर्थाटन-संस्कृति ने लोगों को देश के विभिन्न भागों में जाने के लिए सदैव आकर्षित किया है जिससे भू-सांस्कृतिक एकता की भावना का विकास हुआ है। तीर्थाटन-संस्कृति धार्मिक भावनों की अभिव्यक्ति के साथ-साथ मातृभूमि के प्रति देशभक्ति की अभिव्यक्ति का भी स्रोत रही है तथा यह एक तरह से देश की पूजा ही है। इसने देश के अलग-अलग भागों में रहने वाले व्यक्तियों के बीच अन्तर्क्रिया और सांस्कृतिक बन्धुता की भावना का विकास करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसीलिए तीर्थाटन को सचमुच भारत की भू-सांस्कृतिक एकता बनाए रखने के एक साधन के रूप में देखा जाता है।

(3) समायोजन की परम्परा—भारतीय संस्कृति की प्रकृति संश्लेषणात्मक है अर्थात् इसमें समायोजन और सहनशीलता जैसे विशिष्ट गुण पाए जाते हैं। भारत में बहुसंख्यकों द्वारा अपनाया गया हिन्दू धर्म अत्यन्त लचीला है। यह समरूप धर्म न होकर बहुदेववादी है जो दो रूपों में विद्यमान है। पहला सुसंस्कृत रूप में तथा दूसरा लोकप्रिय रूप में। धर्म का सुसंस्कृत रूप धार्मिक ग्रन्थों में मिलता है, जबकि लोकप्रिय रूप वह है जो बहुसंख्यक जनता के वास्तविक जीवन में देखने को मिलता है। **रोबर्ट रेडफील्ड** (Robert Redfield) ने इन दोनों रूपों को क्रमश: बृहत् परम्परा और लघु परम्परा कहा है। एक ओर हमारे बीच 'रामायण' और 'महाभारत' की बृहत् परम्परा मौजदू है तो दूसरी ओर ग्रामीण देवता की पूजा की लघु परम्परा भी। हिन्दू धर्म एक उदारचेता, गहनशील एवं आत्मसात् करने वाला धर्म है। यह अपनी उदारता और समायोजन के गुण के लिए प्रसिद्ध है। हिन्दू धर्म न तो अन्य धर्मों का विरोध करता है और न ही उनके अनुयायियों को धर्म परिवर्तन करने के लिए प्रेरित करता है। इसी गुण के कारण भारत में अनेक मतों का सह-अस्तित्व सम्भव हो सका है।

विभिन्न धर्मों तथा मतों के मानने वालों के सह-अस्तित्व की क्रियाविधि यहाँ वर्षों से विद्यमान है। उदाहरणार्थ, हिन्दू और मुसलमान सदैव एक-दूसरे के उत्सवों, त्योहारों, दावतों और धार्मिक उत्सवों में हिस्सा

लेते रहे हैं। इससे इनका एक-दूसरे के सुख-दु:ख में शामिल एवं सहभागी होना सहज हो गया है। उन्होंने एक-दूसरे के सन्तों और धार्मिक पुरुषों को आदर भाव देकर भी ऐसा किया है। यही भावना सिक्ख, जैन, ईसाई आदि अन्य धर्मों के साथ भी सह-अस्तित्व बनाए रखने में सहायक रही है।

(4) परस्पर निर्भरता की परम्परा—भारतीय संस्कृति में परस्पर निर्भरता की एक अद्‌भुत परम्परा है जिसने भारतीयों को सदियों से एक साथ बाँधे रखा है। इसका एक स्वरूप जजमानी प्रथा में देखा जा सकता है जो विभिन्न जातियों में सेवाओं के विनिमय की व्यवस्था है तथा विभिन्न जातियों को परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर बनाती है। भारत में कोई भी जाति स्वावलम्बी नहीं है। प्रत्येक जाति को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अन्य जातियों पर आश्रित होना पड़ता है। इसी भाँति, जातियाँ धार्मिक समुदायों की सीमा से भी परे पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार एक हिन्दू कपड़ों की धुलाई के लिए एक मुसलमान धोबी पर आश्रित हो सकता है, उसी भाँति, एक मुस्लिम अपने कपड़ों की सिलाई के लिए एक हिन्दू दर्जी पर निर्भर हो सकता है। समय-समय पर दोनों सम्प्रदायों के संवेदनशील एवं विवेकी नेताओं ने हिन्दू एवं मुस्लिम परम्पराओं को संश्लिष्ट करने का प्रयास किया है जिससे दोनों एक-दूसरे के और अधिक निकट आ सकें। उदाहरणार्थ, सम्राट अकबर ने दोनों धर्मों की सर्वाधिक अच्छी बातों को लेकर 'दीन-ए- इलाही' नामक एक नए धर्म को चलाया था। इस क्षेत्र में कबीर, एकनाथ, गुरुनानक और वर्तमान समय में महात्मा गांधी द्वारा दिया गया योगदान सर्वविदित है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति में विभिन्न प्रकार की विविधताओं के बावजूद मौलिक एकता पाई जाती है। वस्तुत: विविधताओं के परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति एकरूप संस्कृति (Uniform culture) के रूप में विकसित न होकर संयुक्त (मिश्रित) संस्कृति (Composite culture) के रूप में विकसित हुई है। संयुक्त संस्कृति के मॉडल में एक अखण्ड राष्ट्रीय ढाँचे के अन्दर संस्कृतियों की बहुलता के संरक्षण और विकास का प्रावधान होता है। विभिन्न भाषाओं का विकास, विभिन्न धर्मावलम्बियों को अपनी आस्थाओं एवं परम्पराओं को बनाए रखने की स्वतन्त्रता, विभिन्न जातियों एवं जनजातियों को अपनी परम्पराओं, व्यवसायों एवं जीवन-शैली को बनाए रखने की स्वतन्त्रता, अपनी इच्छानुसार राजनीतिक दलों की सदस्यता लेने या उन्हें समर्थन देने या न देने की स्वतन्त्रता, कानून के सम्मुख किसी प्रकार के भेदभाव के बिना एक होने की भावना इसी संयुक्त संस्कृति की देन है। राष्ट्रीय अखण्डता की नीति के अनुरूप धर्मनिरपेक्षता के आदर्श का चयन सभी धर्मों के प्रति समान आदर भाव का ही प्रतीक है। ऐसा नहीं है कि भारतीय संस्कृति की एकता के कारण इसमें विखण्डनशील एवं अलगाववादी मनोवृत्तियाँ अनुपस्थित रही हैं। समय-समय पर इनके द्वारा दी गई चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना किया जाना एकता का ही प्रतीक है। ●

लिंग (Sex) एवं जेण्डर (Gender) की अवधारणा

सामान्य रूप से 'लिंग' एवं 'जेण्डर' शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में किया जाता है। यदि अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोश में 'जेण्डर' का अर्थ देखा जाए, तो इसे 'लिंग' ही कहा गया है। साधारण रूप से इन दोनों शब्दों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया जाता है। परन्तु आज न केवल अनेक भाषाविद्, अपितु समाज वैज्ञानिक इस तथ्य से सहमत हैं कि दोनों शब्द एक-दूसरे से भिन्न हैं।

लिंग से अभिप्राय जैविक एवं भौतिक विशेषताओं से है। जब हम स्त्री या पुरुष की बात करते हैं, तो सम्पूर्ण विश्व में इसका अर्थ उन शारीरिक लक्षणों से लगाया जाता है जो दोनों को एक-दूसरे से अलग करते हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि—

लिंग = पुरुष अथवा स्त्री (Sex = male or female)

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि लिंग से अभिप्राय जैविक अन्तरों (जैसे—क्रोमोसोम, हॉर्मोन, आन्तरिक एवं बाह्य यौनांग) से है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पुरुष एवं स्त्री के रूप में लिंग एक जैविक, भौतिक अथवा प्राकृतिक तथ्य है, जो समस्त विश्व में एक समान अर्थ में समझा जाता है। इसलिए 'लिंग' शब्द का अर्थ सभी समाजों में सार्वभौम रूप से पुरुष एवं स्त्री के जैविक अन्तरों की दृष्टि से समझा जाता है। सभी यह जानते हैं कि केवल स्त्रियों को मासिक धर्म होता है, वे गर्भवती हो सकती हैं तथा माँ बन सकती हैं, जबकि पुरुष में ऐसा कुछ नहीं होता है। केवल स्त्रियाँ ही शिशुओं को अपना दूध पिला सकती हैं, पुरुष नहीं। इसी प्रकार शारीरिक अन्तर की दृष्टि से स्त्रियों में अण्डाशय या डिम्ब ग्रन्थियाँ (Ovaries) होती हैं, जबकि पुरुषों में अण्ड ग्रन्थियाँ (Testicles) पाई जाती हैं। अंग्रेजी भाषा में सन् 1950 तक लिंग एवं जेण्डर में कोई भेद नहीं किया जाता था।

जेण्डर (Gender) की अवधारणा

'लिंग' के विपरीत 'जेण्डर' एक सामाजिक-सांस्कृतिक तथ्य है, जिसे हम लिंग की सामाजिक रचना भी कह सकते हैं। यह किसी प्राकृतिक प्रक्रिया का परिणाम न होकर सामाजिक संरचना द्वारा निर्मित प्रक्रियाओं की सामाजिक रचना होती है। विभिन्न समाजों में सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तर होने के कारण सामाजिक लिंग के रूप में लिंग की यह सामाजिक रचना भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है। इसीलिए विभिन्न समाजों में अथवा एक ही समाज के विभिन्न युगों में जेण्डर से सम्बन्धित भूमिकाओं में भी अन्तर पाया जाता है। इस नाते जेण्डर एक स्थायी एवं अपरिवर्तनीय सामाजिक रचना नहीं है। जेण्डर पर आधारित पहचान गतिशील (गत्यात्मक) होती है तथा इसे बनाए रखने में अनेक कारकों की निरन्तर अन्तर्क्रिया उत्तरदायी मानी जाती है। इन कारकों में सामाजिक, राजनीतिक, लैंगिक, आर्थिक तथा ऐतिहासिक प्रमुख हैं। जेण्डर पर आधारित वर्गीकरण का आधार लिंग पर आधारित श्रम-विभाजन है, जिसके आधार पर यह परिभाषित किया जाता है कि स्त्रियों के लिए कौन-सा श्रम वांछनीय है तथा पुरुषों के लिए कौन-सा।

पुरुषों एवं स्त्रियों की जैविक प्रवृत्ति से ही सामाजिक भूमिकाएँ निर्धारित होती हैं। स्त्रियों को घर एवं चूल्हे से तथा पुरुषों को बाहरी दुनिया से, स्त्रियों को प्रकृति तथा पुरुषों को संस्कृति, स्त्रियों को नीति तथा पुरुषों को सार्वजनिक, स्त्रियों को भावनाओं तथा पुरुषों को तार्किकता से जोड़ा जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से संस्कृति द्वारा निर्मित पुरुषत्व तथा स्त्रीत्व का प्रचलन दोनों लिंगों में असमान शक्ति सम्बन्धों को बनाए रखने के लिए होता चला आ रहा है। स्त्रियों को सीमित भूमिका प्रदान की जाती है तथा यह उनके जैविक अनुभवों के इर्द-गिर्द ही घूमती है। यद्यपि यह सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवेश में परिवर्तन तथा स्त्री आन्दोलनों के परिणामस्वरूप थोड़ा-बहुत परिवर्तित हुआ है, फिर भी सामाजिक व्यवहार को निर्धारित करने में इसे आज भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

सन् 1950 एवं 1960 के दशक में अंग्रेज एवं अमेरिकी मनोरोग एवं चिकित्सा विशेषज्ञों ने पहली बार 'लिंग' एवं 'जेण्डर' में लिंग के जैविक तथ्य होने के रूप में तथा जेण्डर के इसकी सामाजिक-सांस्कृतिक रचना के रूप में अन्तर किया। तभी से नारीवादी विद्वान् जेण्डर भेदभाव के विरुद्ध अपनी आवाज उठाते आ रहे हैं। उनका मत है कि जीव विज्ञान ही भाग्य का निर्धारण नहीं करता है अर्थात् स्त्री या पुरुष होना ही भाग्य रेखा को निर्धारित करने वाला एकमात्र तथ्य नहीं है। स्त्रियाँ भी उन सभी सामाजिक भूमिकाओं का निर्वहन कर सकती हैं जिनका पुरुष करते हैं। इसलिए लिंग के आधार पर भेदभाव किया जाना स्त्रियों के प्रति किए जाने वाले अन्याय,

अत्याचार एवं शोषण का द्योतक है। नारीवादी विद्वान् इस शोषण का विरोध करते हैं तथा पितृसत्ता के कारण लिंग पर आधारित भूमिकाओं तथा लिंग के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव को अनुचित मानते हैं।

लिंग की सामाजिक रचना होने के नाते जेण्डर से अभिप्राय लिंग के अनुरूप किए जाने वाले व्यवहार, भूमिकाओं, प्रत्याशाओं तथा समाज में की जाने वाली क्रियाओं से है। प्रत्येक समाज पुरुष एवं स्त्री से अलग व्यवहार की आशा करता है। उनकी भूमिकाओं, क्रियाओं एवं गतिविधियों में भी अन्तर पाया जाता है। अधिकांश समाजों में परम्परागत रूप से लिंग के आधार पर श्रम-विभाजन पाया जाता था, जिसके अनुसार स्त्रियों की भूमिका घर की चहारदीवारी के भीतर सीमित कर दी गई थी। पुरुष की भूमिका बाहर जाकर कार्य करने की रही है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्रीय भाषा में जेण्डर से सम्बन्धित भूमिका से अभिप्राय विभिन्न संस्कृतियों में लिंग के अनुरूप किए जाने वाले व्यवहार प्रतिमानों से है। ऐसा माना जाता है कि 'जेण्डर' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'जीनस' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ 'प्रकार' (Kind, type or sort) है। इसका अर्थ वर्ग के रूप में भी लिया जाता है। यह वह वर्ग है जिसके साथ समाज की लिंगानुरूप मान्यताएँ जुड़ी होती हैं। स्त्रियों का पुरुषों की तुलना में घरेलू कार्यों में संलग्न होना, लड़के के जन्म को लड़की की तुलना में प्राथमिकता देना, लड़के को माँ-बाप के बुढ़ापे का सहारा मानना तथा लड़की को पराया धन मानना, माता-पिता द्वारा लड़की की तुलना में लड़के की शिक्षा एवं रोजगार को अधिक प्राथमिकता देना, पुरुष को स्त्री की तुलना में अधिक ऊँची सामाजिक प्रस्थिति का मानना आदि जेण्डर से सम्बन्धित अन्तर माने जाते हैं। अत: यह कथन उचित ही है कि जेण्डर लिंग की सामाजिक-सांस्कृतिक रचना है।

लिंग एवं जेण्डर में अन्तर

'लिंग' एवं 'जेण्डर' दो भिन्न धारणाएँ हैं। 'लिंग' एक जैविक, प्राकृतिक या भौतिक तथ्य है, जबकि 'जेण्डर' इसकी सामाजिक रचना है। दोनों में अग्रलिखित दो प्रमुख अन्तर पाए जाते हैं—

(1) लिंग स्थिर होता है तथा प्रकृति पर आधारित होता है, जबकि जेण्डरअस्थिर होता है तथा संस्कृति पर आधारित होता है। अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि लिंग एक जैविक तथ्य है, जबकि जेण्डर सीखा हुआ व्यवहार है, जो समय के साथ बदलता रहता है तथा विभिन्न संस्कृतियों में भी इसके स्वरूप में अन्तर हो सकता है।

(2) 'जेण्डर' शब्द सम्बन्धमूलक है, क्योंकि यह केवल स्त्री अथवा पुरुष का द्योतक नहीं है, अपितु उनमें पाए जाने वाले सम्बन्धों को भी स्पष्ट करता है, जबकि लिंग में ऐसा नहीं है, क्योंकि यह मात्र स्त्री या पुरुष का द्योतक है। किसी विशिष्ट समय में जेण्डर से अभिप्राय आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक लक्षणों एवं अवसरों से है, जो पुरुष या स्त्री के साथ जुड़े होते हैं। अनेक समाजों में परम्परागत जेण्डर आधारित लक्षणों में भी भेद किया जाता है। उदाहरणार्थ, विनम्र होना स्त्रियोचित गुण है, जबकि प्रबल होना पुरुषोचित गुण है। इसी प्रकार भावुक होना, ग्रहणशील होना, संकोची होना, निष्क्रिय होना अथवा कोमल हृदय होना स्त्रियोचित गुण माने जाते हैं; जबकि तार्किक होना, आग्रही होना, विश्लेषणपरक होना, बहादुर होना, सक्रिय होना तथा कठोर हृदय होना पुरुषोचित गुण माने जाते हैं, जिनको जेण्डर से जोड़ा जाता है।

सदियों तक यह माना जाता रहा कि समाज में स्त्रियों एवं पुरुषों से जुड़े लक्षणों, भूमिकाओं एवं प्रस्थितियों का निर्धारण जीव विज्ञान (लिंग) द्वारा किया जाता है तथा प्राकृतिक होने के नाते इन्हें बदला नहीं जा सकता। इसी मानसिकता के कारण स्त्रियाँ सामाजिक पूर्वाग्रहों एवं भेदभाव का शिकार रही हैं। आज नारीवादी विद्वान् लिंग पर आधारित भूमिकाओं को प्राकृतिक व अटल नहीं मानते हैं तथा ऐसा कहकर स्त्रियों पर किए जाने वाले सभी प्रकार के भेदभाव का विरोध करते हैं। नारीवादी विद्वानों की यह मान्यता है कि स्त्री एवं पुरुष पर जो मान्यताएँ समाज थोप देता है, वे पितृसत्तात्मक सोच का परिणाम हैं, जिसके कारण पुरुषों के लिए माने जाने वाले आदर्श स्त्रियों से भिन्न होते हैं। शारीरिक अन्तर के आधार पर स्त्रियों के साथ किया जाने वाला भेदभाव, शोषण एवं अत्याचार उन्हें आगे बढ़ने से रोकने का प्रयास है तथा उनकी क्षमताओं का अवमूल्यन करता है। आज यह सिद्ध हो चुका है कि स्त्रियाँ भी कठिन-से-कठिन कार्य करने में सक्षम हैं तथा लिंग के आधार पर उन्हें कमजोर मानना अथवा उन्हें पुरुषों के समान आगे बढ़ने के अवसर न देना स्त्रियों के अधिकारों का हनन है, जिसका सभी को विरोध करना चाहिए।